आनन्दसूत्रम्

श्रीश्री आनन्दमूर्ति

आनन्द - सूत्रम्

© आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय कार्यालय)
द्वारा सर्वस्वत्व संरक्षित

रजिष्टर्ड आफिस : आनन्दनगर , बागलता , पुरुलिया
सम्पर्क कार्यालय : ५२७ , वी , आई , पी , नगर ,
कलिकाता - १०० ५
प्रथम संस्करण : फरवरी , १ ९ ६५
द्वितीय संस्करण : दिसम्बर , १ ९ ८१
पञ्चम मुद्राङ्कन : अक्तूबर , २००१
पष्ठ मुद्राङ्कन : जनवरी , २०१६
प्रकाशक : आचार्य मन्त्रेश्वरानन्द अवधूत (
केन्द्रीय प्रकाशन सचिव)
आनन्दमार्ग प्रचारक संघ , ५२७ ,
वी.आई. पी . नगर ,
कलिकाता- ७०० १००
मुद्रक : आचार्य अभिव्रतानन्द अवधूत
आनन्द प्रिन्टर्स , ३ / १ सि ,
मोहनबागान लेन ,

कलिकाता- ७००००४ -

प्राप्तिस्थान : प्रभात लाइब्रेरी

६१. महात्मा गाँधी रोड ,

कलिकाता- ७०००० ९

ISBN . 81-7252-206-1

मूल्य : ३०.०० रूपये मात्र

चरम निर्देश

“जो दोनों समय नियमित रूप से साधना करते हैं , मृत्युकाल में परमपुरुष की भावना उनके मन में अवश्य ही जगेगी और निश्चित रूप से उनकी मुक्ति होगी ही । अतः प्रतयेक आनन्दमार्गी को दोनों समय साधना करनी ही होगी - यही है परमपुरुष का निर्देश । यम - नियम के बिना साधना नहीं हो सकती । अतः यम - नियम का पालन करना भी परमपुरुष का ही निर्देश है । इस निर्देश की अवहेलना करने का अर्थ है कोटि - कोटि वर्षों तक पशुजीवन के क्लेश में दग्ध होना । किसी भी मनुष्य को उस क्लेश में दग्ध होना नहीं पड़े तथा परमपुरुष की स्नेहच्छाया में सभी आकार शाश्वती शान्ति लाभ करें , इसलिए सभी मनुष्यों को आनन्दमार्ग के कल्याण - पथ पर लाने की चेष्टा करना ही प्रत्येक आनन्दमार्गी का कर्त्तव्य है । दूसरों को सत्पथ का निर्देशन करना साधना का ही अंग “

श्री श्री आनन्दमूर्ति

रोमन संस्कृत वर्णमाला

विभिन्न भाषाओं का ठीक - ठीक उच्चारण करने के लिए तथा द्रुतलेखन के प्रयोजन को समझकर निम्नलिखित पद्धति से रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	
অ	আ	ই	ঈ	উ	ঊ	ঋ	ৠ	ঌ	ৡ	এ	ঐ	ও	ঔ	অং	অঃ	
a	á	i	ii	u	ú	r	rr	lr	lrr	e	ae	o	ao	am	ah	

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ক	খ	গ	ঘ	ঙ	চ	ছ	জ	ঝ	ঞ
ka	kha	ga	gha	uṇa	ca	cha	ja	jha	iṇa

ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
ট	ঠ	ড	ঢ	ণ	ত	থ	দ	ধ	ন
ťa	ťha	ďa	ďha	ńa	ta	tha	da	dha	na

प फ ब भ म

প ফ ব ভ ম

Pa pha ba bha ma

य र ल व

য ऱ ল ব

ya ra la va

श ष स ह क्ष

শ ষ স হ ক্ষ

sha śa sa ha kśa

अँ ज्ञ ऋषि छाया ज्ञान संस्कृत ततोऽहं

অঁ জ্ঞ ঋষি ছায়া জ্ঞান সংস্কৃত ততোঽহং

aṇ jiṇa rśi cháya jiṇána samśkrta tato’haṁ

a á b c d ḍ e g h i j k l m ṁ n ṅ ṇ o p r s ś t ṭ u ú v y

समग्र विश्व में बहुत प्रचारित रोमन लिपि के २९ अक्षर मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक - ठीक उच्चारण किया जाना सम्भव है । इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है । अरबी , फारसी और अन्यान्य f, q , gh , z , प्रभुति अक्षरों का प्रयोजन रहता है , संस्कृत में नहीं । शब्द के मध्य या शेष में ' ड ' , ' ढ ' यथाक्रम ' ड़ ' और ' ढ़ ' ' रूप में उच्चारित होते हैं । ' य ' (जहाँ ' य ' का उच्चारण ' इ ' , ' अ ' होता है) के समान वे भी कोई स्वतंत्र वर्ण नहीं हैं । प्रयोजन के अनुसार और असंस्कृत शब्द लिखने के समय ŕa और ŕha व्यवहार किया जा सकता है ।

गैर- संस्कृत शब्द लिखने के लिए दिए गए दश अतिरिक्त अक्षर

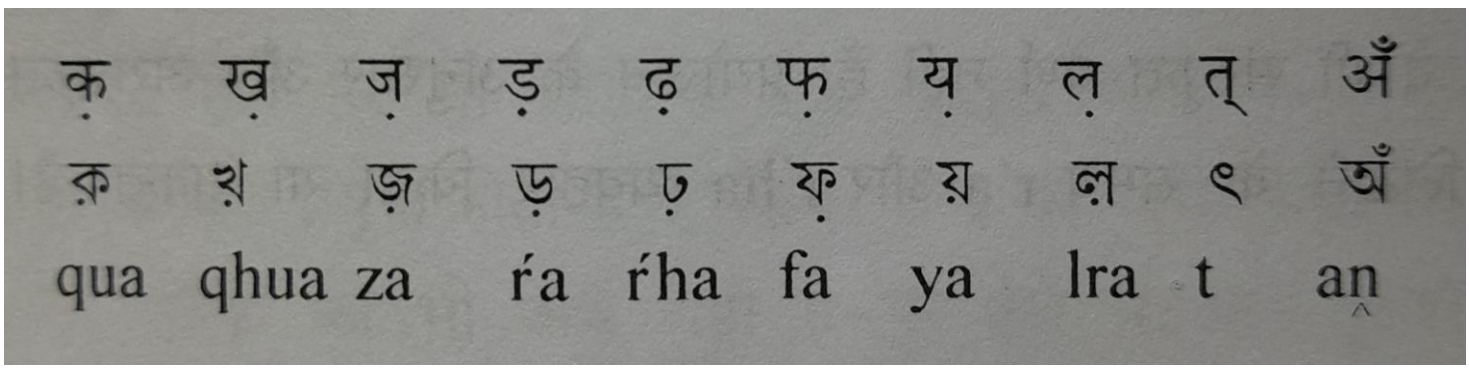

आनन्दसूत्रम्

१/१ शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म ।

[Shiva-shaktyátmakam Brahma.]

भावार्थ:- शिव और शक्ति दोनों का मिलित नाम ही ब्रह्म है। कागज के तख्ते के दो पृष्ठ होते हैं । इन पृष्ठों से उनकी उपमा दी जा सकती है । जिस प्रकार कागज के तख्ते से किसी भी अवस्था में कोई पृष्ठको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ब्राह्मी सत्ता में पुरुष तथा प्रकृति का सम्बन्ध है एक को हटाने से दूसरे की स्थिति संकटापन्न हो जाती है, इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि पुरुष और प्रकृति अविनाभावी हैं । युक्ति और तर्क के लिए यद्यपि ये दो मान लिए गये हैंपरन्तु वास्तव में वे अविच्छिन्न हैं। 'शिव' या 'पुरुष' दार्शनिक शब्द के रूप में व्यापक

भाव से व्यवहृत होने पर भी लौकिक क्षेत्र में इस अर्थ में 'आत्मा' शब्द ही अधिक प्रयुक्त होता है । 'शिव' शब्द का अर्थ साक्षीचैतन्य है और 'पुरुष' का भी अर्थ यही है-पुरे शेते यः सः पुरुषः । अर्थात् प्रत्येक सत्ता में जो साक्षीबोध सोया हुआ है उसे ही पुरुष कहा जाता है। 'आत्मा' शब्द का अर्थ सर्वप्रतिसंवेदी है ।

शरीरबोध का प्रतिसंवेदन मानसपट पर होता है, अर्थात् शरीर की जड़ तरंगें मानसपट से टकरा कर जो प्रतिफलन उत्पन्न करती है उस प्रतिफलन के फलस्वरूप ही मानस भूमि में शरीर का बोध जगता है । ठीक उसी प्रकार प्रत्येक जड़ वस्तु की तरंगें ज्यों ही किसी के मानसपट से टकराती हैं त्योंही उस वस्तु का प्रतिफलन होता है तथा उस व्यष्टि के मानसपट पर उस जड़ वस्तु का बोध उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार मानस तरंग भी आत्मिक सत्ता से टकराती है तथा इसके फलस्वरूप उन मानस तरंगों का भी प्रतिफलन (reflection) होता है और आत्मा एवं जीव

अविच्छिन्न हैं--यह बोध जग पड़ता है । मानसतरङ्ग या भावना को यदि दार्शनिक भाषा में संवेदन कहा जाय तो आत्मिक पट पर मानसतरङ्ग के प्रतिफलन को प्रतिसंवेदन कहा जाएगा और आत्मिक पट वही है जो उसके मन का प्रतिसंवेदी है जगत् की सभी वस्तुओं-स्थूल, सूक्ष, एवं कारण-की अवस्थिति मानसतरङ्ग या संवेदन में ही है। इसीलिए पूर्णरूपेण युक्तियुक्त भाव से यह कहा जा सकता है कि यह आत्मा है सर्वप्रतिसंवेदी, इस सर्वप्रतिसंवेदी आत्मा के रहने के कारण ही जगत् की सभी वस्तुओं का अस्तित्व है । वे चीजें परोक्ष-अपरोक्ष, क्षुद्र या व्यापक ही क्यों न हों, तत्त्वगत दृष्टि से सिद्ध और स्वीकृत हो रही हैं । यदि आत्मा नहीं रहता तो सभी का अस्तित्व विपर्यस्त हो जाता ।

१/२ शक्तिः सा शिवस्य शक्तिः ।

[Shaktih sá Shivasya shaktih.]

भावार्थ :- प्रत्येक वस्तु के उपादान और निमित्त कारण होते हैं । इसके अतिरिक्त निमित्त के साथ उपादान का संयोगस्थापक क्रियाभाव भी है । इस क्रियाभाव की मात्रा के अनुसार ही निमित्त की उपादान के साथ दृढ़ता या शिथिलता निर्धारित होती है । सृष्टि के विकास में पुरुषतत्त्व उपादान कारण है; प्रकृतितत्त्व निमित्त के साथ उपादान की सम्पर्कस्थापिका शक्ति है तथा निमित्तकारण के रूप में पुरुषभाव मुख्य तथा प्रकृतिभाव गौण है ।

पुरुष सर्वानुस्यूत सत्ता है। अतः इसके व्यतिरेक कुछ भी उपादान कारण के रूप में सिद्ध नहीं हो सकता। प्रकृतितत्त्व सर्वानुस्यूत नहीं होने के कारण पुरुष की आश्रिता है। पुरुष स्वदेह में प्रकृति को जितना कार्य करने का अवसर देता है, वह केवल उतना ही कार्य कर सकती है। इसीलिए सृष्टि के विज्ञान में

कारण सत्ता के रूप में पुरुष को ही मुख्य निमित्त कारण कहा जा सकता है। प्रकृति पुरुष-प्रदत्त अधिकार को व्यवहार में ला कर कारक रूप में स्वयं को प्रतिपन्न करती है। इसीलिए वह गौण निमित्त कारण है। इस निमित्त कारण के द्वारा उपादान कारण में जो विकृति या अभिव्यक्ति होती रहती है जिसे हम जागतिक विकास कहते हैं वह प्राकृत गुणत्रय के द्वारा सम्पन्न होती है। इसीलिए प्रकृति निमित्त कारण तथा उपादान कारण की सम्पर्कस्थापिका शक्ति है। प्राकृत प्रभाव की अल्पता या अधिकता के ऊपर ही वस्तुदेह की दृढ़ता या शिथिलता सम्पूर्णरूपेण निर्भर करती है।

सभी क्षेत्रों में पुरुष की ही भूमिका मुख्य है। पुरुष ने प्रकृति को कार्य करने का जितना अधिकार दिया है या देता है, प्रकृति उतना ही कार्य करती है या कर पाती है। सृष्टि के विकासक्रम में पुरुष उसे कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है और प्रकृति कार्य करती

चलती है। गुणत्रय के बन्धन के कारण सूक्ष्म पुरुष क्रमशः स्थूलत्व प्राप्त करता जाता है। स्थूलत्व की चरम अवस्था में पुरुष धीरे-धीरे प्रकृति के पूर्व-प्रदत्त सुयोग और स्वाधीनता को संकुचित करता रहता है। इसीलिए स्थूल पुरुष क्रमशः सुक्ष्मत्व अर्जन करते-करते चरम अवस्था में अपने स्वभाव में लौट आता है। प्राकृत बन्धन के कारण पुरुषदेह में जो विकासधारा है उसे दार्शनिक विचार से सञ्चर कहा जाता है और बन्धन की क्रमवर्द्धमान शिथिलता के कारण पुरुषदेह में जो क्रमिक मुक्ति का भाव आता है उसे प्रतिसञ्चर कहा जाता है। स्पष्ट है कि प्राप्त अधिकार के सद्व्यवहार में प्रकृति के स्वाधीना होने पर भी अधिकार पाना या न पाना पुरुष या चितिशक्ति पर निर्भर करता है। इसलिए कहना पड़ता है कि प्रकृति पुरुष की ही प्रकृति है-शक्तिः सा शिवस्य शक्तिः ।

१/३ तयोः सिद्धिः सञ्चरे प्रतिसञ्चरे च।

[Tayoh siddhih saincare pratisaincare ca.]

भावार्थ :- किसी सत्ता का अस्तित्व उसकी कर्मधारा, भावना धारा अथवा साक्षित्व से निष्पन्न होता है। साक्षित्व भाव पुरुष का तथा शेष दो भाव मूलतः प्रकृति के हैं। इसीलिए कर्मधारा या भावनाधारा की हेतुभूत सत्ता के रूप में प्रकृति की सत्ता तभी सिद्ध होती है जब वह स्वयं विषय भाव ग्रहण करती है, वह स्वयं विषय भाव के साथ मिलकर एक हो जाती है। प्रकृति जो विषय भाव ग्रहण करती है, वह पुरुष के ऊपर उसके क्रमवर्द्धमान प्रभाव के कारण ही होता है। प्रकृति के इस विषय भाव का ग्रहण, पुरुष पर उसके क्रमवर्द्धमान प्रभाव से अर्थात् सञ्चरक्रिया में या क्रमहस्वमान प्रभाव से अर्थात् प्रतिसञ्चर क्रिया में निष्पन्न होता है। प्रकृति का प्रकाश सञ्चर या प्रतिसञ्चर क्रिया में ही होता है। प्रकृति के इस प्रकार

के उपादान कारण के रूप में पुरुष तो है ही, इसके अतिरिक्त सर्वावस्था में पुरुष का साक्षित्व है।

१/४ परमशिव: पुरुषोत्तमः विश्वस्य केन्द्रम् ।

[Paramashivah Parusottamah vishvasya kendram.]

भावार्थ :- त्रिगुणात्मिका प्राकृत शक्ति मूलतः पुरुष भाव को अपनी क्रमवर्द्धमान बन्धनी शक्ति के द्वारा आपातदृष्टि से जड़ में परिणत करती जा रही हैं। यह इसकी क्रिया की एक धारा है और दूसरी धारा वह है जो जड़ पर से गुणत्रय के प्रभाव को क्रमशः शिथिल कर पुरुष को स्वभाव में लौटा लाती है, अर्थात् बन्धन क्रिया की परिसमाप्ति कराती है। प्राकृत शक्ति की प्रथमोक्त धारा केन्द्रातिगा (centrifugal) है तथा अपरोक्त धारा केन्द्रानुगा (centripetal) है। इस

केन्द्रातिगा और केन्द्रानुगा की मदद से ही ब्रह्मचक्र या सृष्टिचक्र व्यक्त होता है। इस ब्रह्मचक्र का जो प्राणकेन्द्र (nucleus) है वह पुरुष का स्व-भाव है। समग्र ब्रह्मचक्र का उपादान कारण पुरुष या शिव (Conciousness) है और उनके इस प्राणकेन्द्र को परम शिव या पुरुषोत्तम कहा जाता है।

१/५ प्रवृत्तिमुखी सञ्चरः गुणधारायाम्।

[Pravittimukhii saincarah gunadhárayám.]

भावार्थ :- ब्रह्मचक्र के प्राणेकन्द्र से प्रकृति के प्रभाव के कारण पुरुष के जड़ाभिमुखी विकास को ही प्रवृत्ति (extrovertial phase) कहते है। साक्षीस्वरूप पुरुषोत्तम में प्राकृत शक्ति के प्रथम सम्पात के कारण अस्तित्व बोध जगता है। दार्शनिक भाषा में इस अस्तित्व बोध को ही महत्तत्त्व कहा जाता है। जिस प्राकृत शक्ति सम्पात से इस महत्तत्त्व की उत्पत्ति

होती है उसे ही प्रकृति का सत्त्वगुण (Sentient Principle) कहा जाता है। 'गुण' का अर्थ है बाँधने की रस्सी (binding principle) । महत्तत्त्व के ऊपर प्राकृतिक धाराप्रवाह में प्राकृत शक्ति के दूसरे सम्पात से ही कर्तृत्वबोध तथा स्वामित्वबोध उत्पन्न होता है। पुरुष की इस परिवर्त्तित अभिव्यक्ति को अहंतत्त्व (doer I) कहा जाता है, तथा जिस शक्ति सम्पात से यह उत्पन्न होता है उसे ही रजोगुण (Mutative Principle) कहा जाता है। प्राकृत शक्ति के क्रमिक धाराप्रवाह में अधिक शक्ति सम्पात के कारण परिशेष में उद्भूत होता है विषय भाव या पुरुष की चरम स्थूलत्व प्राप्ति (The crudest objective counterpart of the subjective cos- mos) । पुरुष की इस अवस्था को चित्त (Mind stuff) कहा जाता है। जिस शक्ति सम्पात के कारण इसकी उत्पत्ति होती है प्रकृति की उस शक्ति को तमोगुण (Static Principle) कहा जाता है। अर्थात् एक ही पुरुष से

प्रवृत्ति की ओर इसकी क्रमिक गुणधारा में ही सञ्चर क्रिया निष्पन्न होती है।

१/६ निवृत्तिमुखी प्रतिसञ्चरः गुणावक्षयेण ।

[Nivrttimukhii pratisaincarah guńávaksayeňa.]

भावार्थ :- वृत्ति की वृद्धि प्रवृत्ति है, तथा वृत्ति की ह्रासप्राप्ति निवृत्ति हैं। सञ्चर की धारा में पुरुष में प्राकृत प्रभाव से वृत्ति का चरम व्यक्तीकरण होता है। तमोगुणी प्रकृति के प्रभाव से पुरुष देह में जो चित्त सत्ता की उत्पत्ति होती है वह जीवात्मा के लिए जब अनुभव्य या वेदनीय रूप से गृहीत होती है तभी वह पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियाँ तथा पञ्च तन्मात्र के रूप में प्रतीयमान होती है। गुणधारा की जब चरम अवस्था आती है, तमोगुण का अवक्षय प्रारम्भ होता है। अवक्षय का अर्थ है- पुरुष प्रकृति के अधिकार को संकुचित करता रहता है। इसके फलस्वरूप पुरुष के

आकर्षण से प्रकृति विश्वकेन्द्र पुरुषोत्तम की ओर अग्रसर होती रहती है। इसके ही प्रभाव से क्रमश: जड़ पञ्च महाभूत जीवदेह, जीवप्राण तथा जीवमन में रूपान्तरित (metamor- phosed) होते रहते हैं। गुण के अवक्षय के कारण अन्त में जीवमानस पुरुषोत्तम में लीन हो जाता है। जीवमानस अपने मूल कारण में लीन हो जाता है। इसलिए प्रतिसञ्चर की चरम अवस्था गुणवर्जित अवस्था है। इसे ही व्यष्टिजीवन का प्रलय कहा जा सकता है।

१/७ दृक् पुरुष: दर्शनं शक्तिश्च ।

[Drk puruśah darshanam shaktishca.]

भावार्थ :- क्रियाभाव दर्शन है, साक्षीभाव दृक् है । दृक् के अनस्तित्व में दर्शन असिद्ध रहता है। मनन, वचन, चरण, ग्रहण- ये सभी क्रियाभाव हैं। इन क्रियाभावों का अस्तित्व जिस साक्षित्व से निष्पन्न होता है, वह दृक्

भाव ही पुरुष है, और उसके आश्रय में जिस क्रियाभाव की अभिव्यक्ति होती है वही प्राकृत गुणसम्पन्न है। जड़तरङ्ग के व्यक्तीकरण को यदि क्रियाभाव कहें तो उस दिशा में उसके आपातसाक्षी को चैत्तिक सत्ता कहना होगा। चैत्तिक स्फूरण को यदि क्रियाभाव कहें तो उसके आपात साक्षी को अहंतत्त्व (ego) कहेंगे। अहं के विकास को यदि क्रियाभाव कहें, तो उसका आपात साक्षी महत्ततत्त्व है। "मैं हूँ" -के अस्तित्वबोध को या महत्ततत्त्व को यदि क्रियाभाव कहें तो उसके साक्षी भाव अर्थात् "में जानता हूँ कि मैं हूँ"-यह भाव ही चरम साक्षी रूप में ग्रहणीय है। यह जो "में जानता हूँ" है यह किसी का आपात साक्षी नहीं है। सर्वावस्था में सभी वस्तुओं का परम साक्षी है। अतः विशुष्क विचार से यह भाव ही दृक् पर्यायभुक्त है। यह ही पुरुष का विषययुक्त स्व-भाव (attributed consciousness) है।

१/८ गुणबन्धनेन गुणाभिव्यक्तिः ।

[Gunabandhanena gunábhivyaktih.]

भावार्थ :- गुण का अर्थ बांधने की रस्सी है। जिस वस्तु पर जितना ही दृढ़ बंधन है, वह वस्तु उतना ही स्थूलत्वप्राप्ति करती चलती है। पुरुष-प्रदत्त स्वाधीनता से प्रकृति जब पुरुष को बाँधती है तब क्रमवर्द्धमान गुणबन्धन से चेतन पुरुष महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, चित्त आदि में रूपान्तरित होता रहता है और इसके बाद चैत्तिक सत्ता पर अधिकतर तमोगुण के बन्धन के कारण आकाशतत्त्व का उद्भव होता है, ततोऽधिक बन्धन से मरुत्तत्त्व का, ततोऽधिक बन्धन से अग्नितत्त्व का, ततोऽधिक बन्धन से जलतत्त्व का, तथा ततोऽधिक बन्धन से क्षितितत्त्व का उद्भव होता है। इस क्षितितत्त्व में भी बन्धन का मात्राभेद है। बन्धन की दृढ़ता से भूतदेह में आन्तराणविक तथा आन्तर्पारमाणविक दूरत्व ह्रास होता रहता है। तथा

इसके फलस्वरूप जड़देह में आभ्यन्तरीण संघर्ष बढ़ जाता है । बाह्यिक गुणबन्धन के चाप तथा आभ्यन्तरीण संघर्ष वस्तुदेह में अधिक से अधिकतर गुणाभिव्यक्ति कराता है। इस क्षेत्र में स्मरणीय है कि गुणाभिव्यक्ति का अर्थ गुणसामर्थ्य का आधिक्य नहीं, बल्कि गुणप्रकाश का आधिक्य तथा गुणवैचित्र्य का आधिक्य है। आकाशतत्त्व में शब्द वहन करने की क्षमता है। यदि मान लें कि उसका परिमाप १०० है तो उस क्षेत्र में अधिकतर तमोगुण के बन्धन के कारण आकाशतत्त्व ज्यों ही वायुतत्त्व में रूपान्तरित होता है, त्यों ही उसमें शब्द वहन के गुण के साथ ही साथ स्पर्श गुण भी अभिव्यक्त हो पड़ता है। किन्तु गुणसामर्थ्य की वृद्धि होने का कारण वायुतत्त्व में शब्दवहन का गुण आकाशतत्त्व की बनिस्बत (तुलना में) कम हो जाता है, किन्तु शब्दगुण और स्पर्शगुण का मिलित परिमाप १०० ही रह जाता है।

१/९ गुणाधिक्ये जड़स्फोटः भूतसाम्याभावात् ।

[Guńádhikye jadasphotah bhútasámyábhávát]

भावार्थ :- वस्तुदेह के क्षितितत्त्व में रूपान्तरित होने के बाद भी यदि गुण का प्रयोग चलता रहे, तो उस क्षेत्र में भूतसमूहों की समता नष्ट हो जाने पर जड़स्फोट होता है। जड़स्फोट की वजह से क्षितितत्त्व में अत्यधिक आभ्यन्तरीण संघर्ष होता है जिससे चूर्ण-विचूर्ण होकर वह सूक्ष्मतर भूत में अर्थात् क्षिति से अप् या तेज या मरुत् या व्योम में सम्पूर्ण भाव अथवा आंशिक भाव से रूपान्तरित होता जाता है अर्थात् उसकी गति ऋणात्मक सञ्चरात्मिका हो जाती है। किन्तु जड़स्फोट के फल से उद्भूत सूक्ष्मतर वस्तुसमूह उसके बाद भी सञ्चर के पथ पर ही चलता रहता है।

क्रमवर्धमान गुणप्रवाह में ब्राह्मी चित्त का आकाशभूत क्रमशः मरुत में, मरुत क्रमश: तेज में, तेज क्रमश: अप् में, और अप् क्रमशः क्षिति में रूपान्तरित होता रहता है। यह रूपान्तरण क्रिया जितनी ही अधिक आगे बढ़ती जाती है, उतना ही भूत देह में गुणवैचित्र्य दिखाई पड़ता है तथा आयतन भी ह्रास प्राप्त होता रहता है। आयतन की ह्रासप्राप्ति का अर्थ है आभ्यन्तरीण संघर्ष वृद्धि । बाह्यिक गुणप्रवाह के प्राबल्य के कारण ही ऐसा होता है। अतिरिक्त आभ्यन्तरीण संघर्ष के कारण वस्तुदेह में विस्फोरण होता है और वह चूर्ण-विचूर्ण होकर सूक्ष्मतर भूत में रूपान्तरित हो जाता है। गुणाधिक्य के कारण यह जड़स्फोट तभी होता है। जब क्षितिभूत की मात्रा अन्यान्य भूतों की तुलना में अस्वाभाविक रूप में बढ़ जाती है। भूतसमूह की पारस्परिक मात्रा में अति न्यूनाधिक्य नहीं रहने पर जड़स्फोट के बदले जीवदेह की उत्पत्ति होती है।

१/१० गुणप्रभावेन भूतसंघर्षाद्बलम् ।

[Gunaprabhávena bhútasamgharśádbalam.]

भावार्थ :- वस्तुदेह के ऊपर गुण का बन्धन जितना दृढ़ होता रहता है, उसके अभ्यन्तर में भी संघर्ष उतना ही अधिक बढ़ जाता है। यह जो संघर्ष या शक्तिचालन है, इसे 'बल' या 'प्राण' कहा जाता है। सभी भूतों में ही इस 'प्राण' (power) का अस्तित्व अल्प या अधिक परिमाण में है यद्यपि प्राण का व्यक्तीकरण सर्वभूतों में समान रूप में नहीं होता है या नहीं हुआ है।

१/११ देहकेन्द्रिकाणि परिणामभूतानि बलानि प्राणाः ।

[Dehakendrikáni parinamabhútáni baláni pránáh]

भावार्थ :- बहिरान्तरिक शक्तिद्वय के संघर्ष के फल से वस्तुदेह में जिस बल का उद्भव होता है, वह परिणामभूत बल (resultant force) उस देह के किसी अंश में अपना केन्द्र खोज पाये, तो उस क्षेत्र में उस देह के क्रियाशील बलसमूह की समष्टि को 'प्राणाः' या जीवनीशक्ति (vital energy) कहा जाता है। ('प्राण' शब्द संस्कृत मे बहुवचन में व्यवहृत होता है क्योंकि यह प्रकृत पक्ष में दस वायुओं की समष्टि है)।

१/१२ तोव्रसंघर्षेण चूर्णीभूतानि जड़ानि चित्ताणु मानसधातुः वा ।

[Tiivra saungharśeńa cúrniibhútáni jadáni cittánu mánasadhátuh vá.]

भावार्थ :- यदि वस्तुदेह में बल का विकास तीव्र हो पड़े तो उस दशा में वस्तुदेह में अत्यधिक संघर्ष के फलस्वरूप कुछ परिमाण में जड़ सत्ता चूर्ण-विचूर्ण

होकर आकाशतत्त्व से भी सूक्ष्म चित्ताणु या मानसघातु में रूपान्तरित हो जाती है, अर्थात् जड़ से ही मन की उत्पत्ति होती है।

१/१३ व्यष्टिदेहे चित्ताणुसमवायेन चित्तबोधः ।

[Vyaśtidehe cittánusamaváyena cittabodhah.]

भावार्थ :- व्यष्टि- जड़देह में उक्त जड़देह की सामवायिकता को केन्द्र कर जिस चित्ताणुपुंज की अवस्थिति है, उसका सामवायिक भाव ही उसका चित्तबोध है। यह चित्त जीवमन का विषय भाव (Done I or objective I) है। व्यष्टि की सभी अनुभूतियाँ दृष्ट, श्रुत जो कुछ भी क्यों न हों, चित्त में प्रतिफलित होकर चित्त को तद्भावापन्न नहीं कर सकने तक अनुपलब्ध ही रह जाती है।

१/१४ चित्तात् गुणावक्षये रजोगुणप्राबल्ये अहम् । [Cittát guńávakśaye rajoguńaprábalye aham.]
भावार्थ :- पुरुषोत्तम के आकर्षण के कारण चित्तधातु जब विद्याशक्ति के प्रभाव से क्रमशः बढ़ चलती है तब उसके ऊपर से तमोगुण का प्राधान्य क्रमशः ह्रासप्राप्त होता है तथा रजोगुण का प्राबल्य परिदृष्ट होता रहता है। चित्तदेह के जिस अंश में इस रजोगुण का प्राबल्य परिदृष्ट होता है उसे ही अहंतत्त्व या कर्तृत्वयुक्त मैं या स्वामित्वयुक्त मैं (Doer I or owner I) कहा जाता है।

१/१५ सुक्ष्माभिमुखिनीगतिरुदये अहंतत्त्वान्महत् ।

[Súkśmábhimukhiniigatirudaye ahamtattvánmahat.]

भावार्थ :- विद्याशक्ति के आकर्षण से क्रमशः अहंतत्त्व के ऊपर से रजोगुण का प्रभाव भी घटता जाता है और सत्त्वगुण का प्राबल्य सूचित होता रहता है। के जिस अंश में सत्त्वगुण का प्राबल्य प्रतिष्ठित होता है उसे महत्तत्त्व (Pure I feeling) कहा जाता है।

१/१६ चित्तादहंप्राबल्ये बुद्धिः ।

[Cittádahamprábalye buddhih]

भावार्थ :- चित्त की परिधि से अहं की परिधि अधिक हो पड़ने पर उस क्षेत्र में चित्तवर्जित अहं के परिशिष्ठांश को बुद्धि (intellect) कहा जाता है।

१/१७ अहंतत्त्वात् महत्प्राबल्ये बोधिः ।

[Ahamtattvát mahatprábalye bodhih.]

भावार्थ :- अहंतत्त्व से महत्तत्त्व का आयतन अधिक हो जाने पर महत् के उस वर्द्धितांश को बोधि (intuition) कहा जाता है।

१/१८ महदहंवर्जिते अनग्रसरे जीवदेहे लतागुल्मे केवलं चित्तम्।

[Mahadahamvarjite anagrasare jiivadehe latágulme kevalam cittam.]

भावार्थ :- अनग्रसर जीवदेह में या लता-गुल्म में दिखाई पड़ता है कि केवल चित्त का ही विकास हुआ है किन्तु महत्तत्त्व या अहंतत्त्व का विकास नहीं हुआ है।

१/१९ महद्वर्जिते अनग्रसरे जीवदेहे लतागुल्मे चित्तयुक्ताहम् ।

[Mahadvarjite anagrasare jiivadehe latágulme cittayuktá'ham.]

भावार्थ :- अनग्रसर जीवदेहमें या लतागुल्म में यह भी हो सकता है कि महत् का विकास नहीं हुआ हो, किन्तु अहं और चित्त का हुआ हो ।

१/२० प्राग्रसरे जीवे लतागुल्मे मानुषे महदहंचित्तानि । [Prágrasare jiivadehe latágulme mánuse mahadahamcittáni.]

भावार्थ :-अपेक्षाकृत उन्नत जीव में, लतागुल्म में तथा मनुष्य में महत्तत्त्व, अहंतत्त्व तथा चित्त तीनों का विकास होता है।

१/२१ भूमाव्याप्ते महति अहंचित्तयोर्प्रणाशे सगुणास्थितिः सविकल्पसमाधिः वा ।

[Bhúmávyápte mahati ahamcittayorpraṅáshe Saguṅásthitih savikalpasamádhih vá]

भावार्थ :- निरन्तर अभ्यास के द्वारा महत्तत्त्व अर्थात् मैंपन बोध जब भूमा के मैपन बोध में (Macrocosmic I feeling) में रूपान्तरित होता है तब जैव मन (microcosmic mind) का चित्त अहं में तथा अहं महत् में लय प्राप्त करता है। वस्तु जब

अपने कारण में लय प्राप्त करती है तब उस लय को 'प्रलय' या 'प्रणाश' कहा जाता है। जब कि बृहत के महत् से अहं और उसके अहं से चित्त का उद्भव होता है, इस कारण ही प्रतिसञ्चरात्मिका (Introvert) धारा में जब चित्त अहं में तथा अहं महत् में लय प्राप्त करता है तब उसे प्रणाश कहना युक्तिसंगत है । चित्त और अहं का प्रणाश, और महत् का सर्वव्यापित्व की यह अवस्था ही सगुणास्थिति या सविकल्प समाधि है।

१/२२ आत्मनि महत्प्रणाशे निगुर्णास्थितिः निर्विकल्पसमाधिः वा।

[Átmani mahadpraṅáshe nirguṅásthitih nirvikalpasamádhih vá.]

भावार्थ :- महत् को भूमा महत् में पर्यवसित करने की साधना नहीं कर मैंपन बोध को चितिशक्ति में लीन कर महत् की ही प्रलीनावस्था है। उसे ही

निर्गुणास्थिति या निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। गुणराहित्यनिबन्धन इस अवस्था को निर्गुणास्थिति कहा जाता है। यह अवस्था कैसी होती है इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, चुंकि

१/२३ तस्य स्थितिः अमानसिकेषु ।

[Tasya sthitih amánasikeśu.]

भावार्थ :- मन की अतीतावस्था में ही यह निर्गुणास्थिति होती है, अतः यह मन का अनुभव्य नहीं है।

१/२४ अभावोत्तरानन्द

प्रत्ययालम्बनीवृत्तिः तस्य प्रमाणम् ।

[Abhávottaránandapratyayálambaniivrttih tasya pramáṅam]

भावार्थ :- जाग्रदवस्था में स्थूल, सूक्ष्म और कारण (Unconscious, Subconscious and Conscious) - मन की ये तीनों ही अवस्थाएँ क्रियाशीला रहती हैं। किन्तु जड़तर अवस्था की क्रियाशीलता के कारण सूक्ष्मतर अवस्था अप्रधान रूप में प्रतीयमान होती है। स्वप्न दर्शन के समय स्थूल मन निरुद्धावस्था में रहने के कारण सूक्ष्म और कारण मन दोनों ही क्रियाशील रहते हैं। निद्रितावस्था में केवल कारण मन ही क्रियाशील रहता है। निद्रितावस्था, जो एक अभाव बोध की अवस्था है, यह बात सूक्ष्म दार्शनिक विचार से स्वीकृति पाने लायक नहीं है। क्यों नहीं है ? चूँकि उस अवस्था में कारण मन के द्वारा स्थूल और सूक्ष्म मन के कार्यादि निर्वाहित होते हैं। प्रकृत अभाव की अवस्था है मनोलय की अवस्था । इसीलिए सविकल्प समाधि भी अभाव की अवस्था नहीं है, केवल निर्विकल्प

अवस्था ही अभाव की अवस्था है। इस चरम अभाव की अवस्था में जो आत्मिक आनन्द की लहरें जैवी सत्ता को आच्छन्न कर देती हैं, अभाव के बाद भी अर्थात् अभुक्त संस्कार निबन्धन पुनः मन के उद्‌गम के बाद कुछ क्षण तक मन में उन्हीं लहरों का भाव वहता रहता है। उन लहरों का धाराप्रवाह ही मनयुक्त साधक को बताते रहता है कि उनकी मनःशून्य अवस्था थी एक आनन्दघन अवस्था ।

१/२५ भावः भावातीतयोः सेतुः तारकब्रह्म ।

[Bhávah bhávátiitayoh setuh Tárakabrahma]

भावार्थ :- भावयुक्त और भावातीत निर्गुण का जो सेतुस्थापक साधारण विन्दु है उसी का नाम है तारकब्रह्म । महासम्भूति में तारकब्रह्म सगुण रूप में प्रतिभात होते हैं।

द्वितीयोऽध्यायः

२/१ अनुकूलवेदनीयं सुखम् ।

[Anukúlavedaniiyam sukham]

भावार्थ:- जिसका संस्कार जिस तरह की मानस तरङ्ग का प्रसुप्त रूप है, यदि वह जड़ वस्तु से अथवा किसी मानस सत्ता से तदनुरूप तरङ्ग पाये, तो उसके लिए उस तरङ्ग को अनुकूल वेदनीय कहा जाता है। इस अनुकूल वेदनीय तरङ्ग के संस्पर्श में आने को ही सुख बोध कहा जाता है।

२/२ सुखानुरक्तिः परमा जैवीवृत्तिः ।

[Sukhánuraktih paramá jaeviivrttih]

भावार्थ :- जीवमात्र ही स्वयं ही को बचाकर रखना चाहता है। यह बचाकर रखने का भाव एक मानस भाव है। सुख के अभाव में उसका सत्ताबोध विपन्न हो पड़ता है, इसलिए सुख के अभाव को वह नहीं चाहता है, सुख की व्याप्ति को वह अपने परम आश्रय के रूप में चाहता है।

२/३ सुखमनन्तमानन्दम् ।

[Sukhamanantamánandam]

भावार्थ :- कोई भी जीव अल्प में सन्तुष्ट नहीं है - मनुष्य तो और भी नहीं है। इसीलिए थोड़े सुख से किसी का मन नहीं भरता है, वह अनन्त सुख चाहता है। वह अनन्त सुख वस्तुतः सुख और दुःख की एक अतीत अवस्था है। कारण, जो सुख बोध इन्द्रियवृत्ति की सहायता से उपलब्ध है, सुख के अनन्तत्व में

पर्यवसन में वह इन्द्रियवृत्ति के आयत्त के बाहर चला जाता है। इस अनन्त सुख का नाम ही आनन्द है ।

२/४ आनन्दं ब्रह्म इत्याहुः ।

[Ánandam Brahma ityáhuh]

भावार्थ :- अनन्त वस्तु अनेक नही हैं। वह एक ही है। अनन्तत्व में अनेकत्व रह ही नहीं सकता है। उस एक आनन्दघन सत्ता का नाम ही ब्रह्म है जो शिवशक्त्यात्मक है।

२/५ तस्मिन्नुपलब्धे परमा तृष्णानिवृत्तिः ।

[Tasminnupalabdhe parmá tr̥ńánivrttih]

भावार्थ :- जीवों के मध्य में अनन्तत्व की तृष्णा रहती है । सान्त वस्तु से उसकी तृष्णा की निवृत्ति

सम्भव नहीं है। अनन्त सत्ता एकमात्र ब्रह्म हैं, इसीलिए उनके भाव में प्रतिष्ठित होने पर ही जीव की सर्वतृष्णा से निवृत्ति होती है।

२ / ६ बृहदेषणा प्रणिधानं च धर्मः ।

[Brhadeśaṅá praṅidhánam ca dharmah.]

भावार्थ :- ज्ञातभाव से हो अथवा अज्ञातभाव से ही क्यों न हो, मनुष्य अनन्तत्व की प्राप्ति की ओर चल पड़ता है। मनुष्य जब ज्ञातरूप से इस बृहत् को पाने के लिए चेष्टा करता है। और तज्जन्य ईश्वर-प्रणिधान करता है तब उस भाव का ही नाम धर्म है और उस प्रचेष्टा का नाम धर्मसाधना है।

२/७ तस्माद्धर्मः सदाकार्यः।

[Tasmáddharmah sadákáryah]

भावार्थ :- सुख जब सबों का ही काम्य है एवं अनन्तत्व की प्राप्ति के बिना जब सुख भोग की इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकती है, और यह अनन्त की प्राप्ति ही जब धर्म साधना है तब धर्मसाधना प्रत्येक जीव के लिए ही अवश्य करणीय है। अनुन्नत मानसिकता के कारण मनुष्येतर जीव धर्म साधना नहीं कर पाता है, किन्तु मनुष्य तो कर सकता है। अतः जो मनुष्य ऐसा नहीं करते हैं, वे मनुष्य पदवाच्य नहीं हैं।

२/८ विषये पुरुषावभासः जीवात्मा

[Visaye puruśávabhásah jiivátmá]

भावार्थ :- पारमार्थिक विचार से आत्मा एक ही है। व्यक्त (जीव-जन्तु, लतागुल्म में) अथवा अव्यक्त (जैसे मृत्तिका में, लोहे में) जिस अवस्था में ही मन क्यों न हो, उसके ऊपर और उसके विषय जड़वस्तु के ऊपर उस आत्मा का ही प्रतिफलन होता रहता है। मन के ऊपर आत्मा का जो प्रतिफलन है उस प्रतिफलन को जीवात्मा कहा जाता है और उस दिशा के प्रतिफलक आत्मा को परमात्मा या प्रत्यगात्मा (प्रतीपं विपरीतं वा अञ्चति विजानाति इति प्रत्यक्) कहा जाता है। इस प्रतिफलित आत्मा या जीवात्मा को अणुचैतन्य भी कहा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार से परमात्मा को भूमाचैतन्य कह सकते हैं। अणुओं की समष्टि में ही भूमा है, यह बात एक तरह से सत्य भी है चूंकि प्रत्येक मानसपट या जड़सत्ता अपने-अपने सामर्थ्यानुसार परमात्मा को धारण किये चल रहा है। उनके उस सामर्थ्य की समष्टि ही भूमामानस का सामर्थ्य है। परमात्मा भूमामानस के ज्ञातृसत्ता हैं, इसीलिए परमात्मा भूमाचैतन्य हैं।

२/९ आत्मनि सत्तासंस्थितिः ।

[Átmani sattásamsthitih]

भावार्थ :- जड़ की सत्ता चित्ताधार में है । चित्त का आधार कर्तृत्वाभिमान में है, स्वामित्वाभिमान में है अर्थात् अहंतत्त्व में है । कर्तृत्व के अभिमान या स्वामित्व के अभिमान का आधार अस्तित्वबोध में है ("मै हूँ" या महत्ततत्व में) । 'मै हूँ '- यह सत्ताज्ञान अर्थात् मैं जानता हूँ कि मैं हूँ-यह ज्ञातृत्व नहीं रहने से 'मैं हूँ' या मेरे अस्तित्वबोध का सत्ताविपर्यय दिखाई देता है। इसीलिए सब के मूल में "मैं जानता हूँ" रह जाता है उसके बाद द्वितीय सत्ता के रूप में "मैं हूँ" रहता है। इस "मैं जानता हूँ" का जो "मैं" है वह ही आत्मा है। अतः सारा सत्ताबोध आत्मा के ऊपर निर्भरशील है।

२/१० ओतः प्रोतः योगाभ्यां संयुक्तः पुरुषोत्तमः ।

[Otah protah yogábhyám samyuktah Purusottamah.]

भावार्थ :- विश्व के प्राणकेन्द्र पुरुषोत्तम प्रत्यक्ष भाव से प्रत्येक व्यष्टि सत्ता के साक्षी तथा ब्यष्टि सत्ता के साथ संयुक्त है। उनके इसी संयुक्त भाव को ओतयोग कहा गया है। पुरुषोत्तम प्रत्यक्ष भाव से विश्व की समष्टि सत्ता तथा समष्टि मानस के भी साक्षी हैं। समष्टि का साथ उनकी इस संयुक्ति को प्रोतयोग कहा जाता है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जो साथ ही साथ ओत-प्रोत योग द्वारा अपने विषयों से संयुक्त है, वही पुरुषोत्तम है।

२/११ मानसातीते अनवस्थायां जगद्बीजम् ।

[Mánasátiite anavasthávám jagadbiijam]

भावार्थ :- सृष्ट वस्तुएँ कार्य-कारण तत्त्व (Cause and Effect) के अनुसार चलती हैं। प्रतिसंचर धारा में कार्यों के कारण ढूँढ़ते ढूँढ़ते हम पञ्चभूत की ओर पहुँच जाते हैं। ठीक इसी प्रकार सञ्चरधारा में कार्यों के कारण खोजते हुये हम बृहत् के 'महत्' में पहुँच जाते हैं। महत् के ऊपर मन का अधिकार नहीं रहने से मन के लिए वह मानसातीत अवस्था है। इस मानसातीत अवस्था में कार्य-कारण तत्त्व निरूपण करना मन के लिए सम्भव नहीं है। इस तरह से तो अनवस्था दोष हो जाता है, अर्थात् जिस अवस्था में मन का अस्तित्व विपर्यस्त हो जाता है, उस अवस्था में मन है, ऐसा मानना दोष है। इसीलिए सृष्टि कब उत्पन्न हुई थी, क्यों उत्पन्न हुई थी, यह प्रश्न अवान्तर है।

२/१२ सगुणात् सृष्टिरुत्पत्तिः ।

[Sagunát srśtirutpattih]

भावार्थ :- सृष्ट जगत् जब गुणाधिगत रहता है, तब यह कहना ठीक ही है कि जगत् की उत्पत्ति सगुण ब्रह्म से हुई है, निर्गुण से नहीं।

२/१३ पुरुषदेहे जगदाभासः ।

[Purusadehe jagdábhásah]

भावार्थ :- जगत् में व्यक्त या अव्यक्त जो कुछ भी है सव कुछ ब्राह्मी देह में आभासित है। ब्रह्म के बाहर कोई भी वस्तु नहीं है, कुछ भी नहीं है, ब्रह्म से बाहर नाम की कोई वस्तु ही नहीं है।

२/१४ ब्रह्म सत्यं जगदपि सत्यमापेक्षिकम्।

[Brahma satyam jagadapi satyamápeksikam]

भावार्थ :- ब्रह्म सत्य अर्थात् अपरिणामी हैं; किन्तु आपात दृष्टि से ब्रह्मदेह में जो परिणाम देखा जाता है वह प्रकृति का प्रभाव से देश, काल और पात्र इन तीनों (three fundamental relative factors) में ही देखा जाता है, उसको हम गलत नहीं कह सकते हैं और शाश्वत सत्य भी नहीं कह सकते हैं। उसको हम आपेक्षिक सत्य कह सकते हैं, क्योंकि देश, काल, पात्र इस त्रिदण्ड की आपेक्षिकता के ऊपर उनका आपातः परिणाम निर्भर करता है। व्यष्टि सत्ता या व्यष्टि मानस भी अपनी बहमानता तथा धारा में इसी त्रिदण्ड से परामृष्ट है। इसीलिए उसकी सत्ता भी आपेक्षिक है। एक आपेक्षिक सत्ता के निकट दूसरी आपेक्षिक सत्ता

पारमार्थिक सत्य रूप में प्रतीयमान होती है। इसीलिए परिणामयुक्त जीव के पास परिणामयुक्त जगत् भी सत्य रूप में दिखाई देता है।

२/१५ पुरुष : अकर्त्ता फलसाक्षीभूतः भावकेन्द्रस्थितः गुणयन्त्रकश्च ।

[Puruśah akartá phalasáksiibhútah bhávakendras- thitah gunayantrakashca]

भावार्थ :- सर्वसत्ताओं के प्राणकेन्द्र में पुरुष तत्त्व की अवस्थिति है- यह बात व्यष्टि तथा समष्टि उभय पक्ष के लिए ही सत्य है। समष्टि केन्द्र में स्थित पुरुष ही पुरुषोत्तम है। पुरुष अकर्ता है, चूँकि गुणप्रवाह के कारण वस्तुदेह में जब क्रियाशक्ति उद्भूत होती है तब उस क्रियाशक्ति को जो नियन्त्रण किये रहता है उसे कर्त्ता कहा जाता है। पुरुष अकर्ता है चूँकि वे इस

प्रकार की क्रियाशक्ति का नियन्त्रण नहीं करता है, वरन् जिस गुणसमूह के द्वारा क्रियाशक्ति उद्भूत होती है, पुरुष उस गुणकेन्द्र में अवस्थित रहकर गुण का नियन्त्रण करता है। इसीलिए नियन्ता पुरुष या पुरुषोत्तम गुणाधीन नहीं हैं-वे गुणाधीश हैं।

२/१६अकर्त्री

विषयसंयुक्ता बुद्धिः महद्वा।

[Akartrii visayasamyuktá buddhih mahadvá]

भावार्थ :- बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व कुछ भी नहीं करता है, किन्तु विषय के साथ वह संयुक्त रहता है।

२/१७ अहं कर्त्ता प्रत्यक्षफलभोक्ता ।

[Aham kartá pratyaksaphalabhoktá]

भावार्थ :- अहंतत्त्व ही सचमुच कर्म का कर्त्ता है तथा कर्मफल भी वही भोग करता है।

२/१८ कर्मफलं चित्तम्।

[Karmaphalam cittam]

भावार्थ :- जीव का चित ही कर्म का फल रूप प्रहण करता है।

२/ १९ विकृतचित्तस्य पूर्वावस्थाप्राप्तिः फलभोगः ।

[Vikrtacittasya púrvávasthápráptih phalabhogah]

भावार्थ :- कर्म का अर्थ होता है चित्त की अवस्थान्तर प्राप्ति। इस अवस्थान्तर प्राप्ति को यदि विकृति कहा जाय तो उसके बाद चित्त की पूर्वावस्था

प्राप्ति की जो प्रक्रिया है उसे कर्मफल भोग कहना होगा।

२/२० न स्वर्गो न रसातलः ।

[Na svargo na rasátalah]

भावार्थ :- स्वर्ग और नरक नामक कोई भी वस्तु नहीं है। जब मनुष्य सत् कर्म करता है या सत् कर्म का फलभोग करता है तब उसके लिए जो परिवेश होता है वह स्वर्ग नाम से अभिहित होता है, और जब वह कुकर्म करता है या उसका फल भोग करता है, तब उसके लिए जो परिवेश होता है वह नरक रूप से प्रतिभात होता है।

२/ २१ भूमाचित्ते सञ्चरधारायां जड़ाभासः।

[Bhúmácitte saincaradhárávám jadábhásah]

भावार्थ :- ब्राह्मी चित्त के ऊपर तमोगुणी प्रकृति के अधिकतर प्रभाव के कारण आकाश तत्त्व की सृष्टि होती है। आकाश तत्त्व के ऊपर तमोगुणी प्रभाव के कारण मरुत्तत्त्व की सृष्टि होती है। इसी तरह मरुत्तत्त्व से तेजस्तत्त्व, तेजस्तत्त्व से अपतत्त्व तथा अपतत्त्व से क्षितितत्त्व उद्भूत होते हैं। यह आकाश, मरुत्, तेजः, अप् तथा क्षितितत्त्व पञ्च महाभूत के नाम से ख्यात हैं, चूँकि जगत् के अन्यान्य भूत या सृष्ट वस्तुएँ इन्हीं से उत्पन्न होती हैं।

२/२२ भूतलक्षणात्मकं भूतवाहितं भूतसंघर्षस्पन्दनं तन्मात्रम् ।

[Bhútalaksanátmakam bhútaváhitam bhútasamgharśa spandanam tanmátram]

भावार्थ :- आभ्यन्तरीण तथा बहिःस्थ चाप के कारण भूतदेह में जो आलोड़न उपस्थित होता है वह तरंगाकार में तदपेक्षा सूक्ष्मतर भूतदेह के माध्यम से प्रवाहित होकर जीवदेह में विभिन्न इन्द्रियद्वार में उपस्थित होता है। इन्द्रियद्वार से विभिन्न नाड़ियों की मदद से अथवा उसके अभ्यन्तर में प्रवाहित रस की मदद से वह तरंग मस्तिष्क के विशेष-विशेष भावग्राही विन्दु में उपनीत होता है। इसके बाद उस तरङ्गानुयायी चित्तस्पन्दन- उत्पादनकारी बहिःस्थ भूत के शब्द-स्पर्श-रूप-रस अथवा गन्ध के साथ चित्त को संयुक्त कराती है। इस प्रकार के तरङ्गसमूहों को इसीलिए तन्मात्र नाम से अभिहित किया जाता है।

२/२३ भूतं तन्मात्रेण परिचीयते ।

[Bhútam tanmatrena pariciiyate]

भावार्थ :- कौन वस्तु किस महाभूत के अन्तर्भुक्त है यह तत्सृष्ट तन्मात्र के द्वारा निरूपित किया जाता है। आकाशभूत में शब्द तन्मात्र वहन करने का सामर्थ्य है, मरुत में शब्द और स्पर्श, तेजस् में शब्द, स्पर्श तथा रूप, अप में शब्द, स्पर्श, रूप, तथा रस और क्षिति में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पाँचों ही तन्मात्र वहन करने का सामर्थ्य है। कौन वस्तु किस भूत के अन्तर्भुक्त है इसे निर्धारित करने पर सर्वापेक्षा स्थूल कौन सा तन्मात्र को वह वहन कर सकती है, उसी के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, तथा त्वक् इस पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का काम बहिःस्थ भूतसमूह से तन्मात्र ग्रहण करता है। संज्ञा की मदद से वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ इन पञ्च कर्मेन्द्रियों का काम आभ्यन्तरीण तन्मात्र को बाहर उत्सारित करना है तथा प्राणेन्द्रिय का काम वस्तुभाव के साथ चित्तभाव को संयुक्त करना है तथा लघुता, गुरुता, उष्णता, शीतलता का बोध चित्त में सृष्ट करना है।

२/२४ द्वारः नाड़ीरसः पीठात्मकानि इन्द्रियाणि ।

[Dvárah nadiirasah piithátmakáni indriyani]

भावार्थ :- इन्द्रियद्वार अर्थात् जीवदेह के जिस द्वार में तन्मात्र पहले पहल वस्तुभाव को बहाकर ले जाता है, वह नाड़ी या स्नायुतन्तु जो तन्मात्र की तरङ्ग से तरायित होती है, नाड़ीस्थ रस जो तान्मात्रिक स्पन्दन से स्फुरित होता है, एवं स्नायुकोष के जिस विन्दु में तन्मात्रतरङ्ग चित्त से संयुक्त होती है, इनका सामूहिक नाम इन्द्रिय है। अर्थात् लौकिक विचार से हमलोग जिसे चक्षु कहते हैं, उस चक्षु के पीछे जो क्रियाशील चाक्षुषी नाड़ी (optical nerve) हैं, चाक्षुष पित्त, चाक्षुष रस (optical fluid) एवं स्नायुकोष का चक्षुविन्दु या पीठ है- इन सबों का सामवायिक नाम चक्षुरिन्द्रिय है।

तृतीयोऽध्यायः

३/१ पञ्चकोषात्मिका जैवीसत्ता कदलीपुष्पवत् ।

[Paincakośátmiká jaeviisattá kadaliipuspavat]

भावार्थ:- प्रतिसंचर धारा में चित्त सृष्ट हो जाने के बाद ही धीरे-धीरे मन का व्यापक विकास होता रहता है। इस विकास धारा में अणुदेह का स्थूलतम कोष काममय कोष, उससे भी सूक्ष्म मनोमय कोष, उससे भी सूक्ष्म अतिमानस कोष, उससे भी सूक्ष्म विज्ञानमय कोष तथा उससे भी सूक्ष्म हिरण्मय कोष होता है। अणु का स्थूल आधार अन्नमय कोष संचरधारा की सम्पत्ति है। काममय कोष को स्थूल मन, मनोमय को सूक्ष्म मन, एवं अतिमानस, विज्ञानमय तथा हिरण्मय इन

तीनों कोषों को कारण मन भी कहा जाता है। स्थूल मन के साक्षी पुरुष को 'प्राज्ञ', सूक्ष्म मन के साक्षी पुरुष को 'तैजस्' और कारण मन के साक्षी पुरुष को 'विश्व' भी कहा जाता है। जैवी सत्ता के स्थूल आधार संचरस्थित अन्नमय कोष को स्थूल देह, काममय से हिरण्मय कोष तक पंच कोष को सुक्ष्म देह एवं महत्तत्त्व तथा अहंतत्त्व को सामान्य देह कहा जाता है। कदली पुष्प (केला का फुल) के जैसा इन कोषसमूहों में भी स्थूल को हटा देने पर ही सूक्ष्म को समझा जा सकता है।

३/२ सप्तलोकात्मकं ब्रह्ममनः ।

[Saptalokátamakam Brahmamanah]

भावार्थ :- ब्रह्ममन भू, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य ये सात लोक में विधृत है। ब्राह्मी महत्तत्त्व तथा अहंतत्त्व जिसका साक्षी सत्ता केवल पुरुषोत्तम नाम से ही ख्यात है वह ही सत्यलोक है। उसे ब्रह्म का कारण देह भी कहा जाता है। ब्रह्म के हिरण्मय कोष के ज्ञातृ पुरुष को 'विराट' या 'वैश्वानर' कहा जाता है। और संश्लिष्ट लोक को तपः लोक कहा जाता है। ब्रह्म के विज्ञानमय कोष के साक्षी पुरुष को भी एक ही नाम से अभिहित किया जाता है तथा इस लोक को जनर्लोक कहा जाता है। ब्रह्म के अतिमानस कोष के साक्षी पुरुष का भी एक ही नाम से अभिहित किया जाता है तथा इस लोक को महर्लोक कहा जाता है। इन तीनों कोषों का मिलित नाम ब्रह्म का कारण मन अथवा ब्रह्म की सूक्ष्म देह भी है। ब्रह्म के मनोमय कोष को उनका सूक्ष्म मन कहा जाता है, तथा साक्षी पुरुष को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। यह भी ब्रह्म के सूक्ष्म देह के अन्तर्भुक्त है, एवं इसके संश्लिष्ट लोक को स्वर्लोक कहा जाता है। ब्रह्म के काममय

कोष को उनका स्थूल मन भी कहा जाता है, एवं इसके साक्षी पुरुष को 'ईश्वर' कहा जाता है। इसे ब्रह्म की स्थूल देह भी कहा जा सकता है। व्यक्तीकरण के सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व के अनुसार इस कोष को आंशिक भाव से भुवर्लोक तथा आंशिक भाव से भूर्लोक की ख्याति दी जाती है।

३/३ कारणमनसि दीर्घनिद्रा मरणम् ।

[Káraṅamanasi diirghanidrá maraṅam]

भावार्थ :- जाग्रदवस्था में स्थूल सूक्ष्म-कारण तोनों ही मन क्रियाशील रहते हैं। स्वप्नावस्था में केवल स्थूल मन निद्रितावस्था में रहता है, और शेष दोनों मन ही क्रियाशील रहते हैं। निद्रितावस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही मन निष्क्रिय रहते हैं, केवल कारण मन जगा

रहता है एवं वही शेष दोनो मनों का काम करता जाता है। शरीर तरंग के साथ मानस तरंग की जब समान्तरलता विच्छेद हो जाती है तब कारण मन भी निष्क्रिय हो जाता है। इस अवस्था को मृत्यु कहा जाता है।

३/४ मनोविकृतिः विपाकापेक्षिता संस्कारः।

[Manovikrtih vipákápekśitá samskárah]

भावार्थ :- सत् या असत् जो भी कार्य क्यों न किया जाय, इसके कारण एक प्रकार की मानसिक विकृति उत्पन्न होती है। विपाक अर्थात् कर्मफलभोग के द्वारा मन पुनः स्वाभाविक अवस्था में लौट आता है। जिस क्षेत्र में कर्म तो किया गया है, किन्तु फलभोग हुआ नहीं है अर्थात् विपाक अपेक्षित रह गया है, इस

अपेक्षित विपाक का नाम संस्कार (reaction in its poten- tiality) है।

मृत्युकाल में कारण मन में जिस प्रकार का संस्कार रह जाता है, विपाक के द्वारा उस प्रकार के संस्कार भोग के लिए प्रकृति उस विदेही मन को विभिन्न जीवों के गर्भ में संस्कार अनुयायी मानस तरंग के साथ समान्तरलतायुक्त जैवी देह से संयुक्त करा देती है।

३/५ विदेहीमानसे न कर्तृत्वं न सुखानि न दुःखानि ।

[Videhiimánase na kartrtvam na sukhani na duhkháni]

भावार्थ :- देह से मन की वियुक्ति होने का बाद अर्थात् मृत्यु के बाद जीवों में सुख या दुःख बोध हो

नही सकता है क्योंकि सुख या दुःख बोध के लिए स्नायुकोष (मस्तिष्क या nerve-cell) एवं आंशिक भाव में स्नायुतन्तु (nerve fibre) का प्रयोजन है। अतः ऐसा जो कहा जाता है कि विदेही आत्मा अमुक कार्य करने से सुखी होंगे, अमुक कार्य करने से दुःखी होंगे अथवा प्रतिहिंसा वृत्ति का चरितार्थ करेंगे, ये सभी बातें सम्पूर्ण रूपेण त्रुटिपूर्ण हैं।

३/६ अभिभावनात् चित्ताणुसृष्टप्रेतदर्शनम्।

[Abhibhávanát cittánusṛśta pretadarshanam]

भावार्थ :- वास्तव में भूत-प्रेत नामक कोई भी वस्तु नहीं है । भीत, क्रुद्ध अथवा मोहग्रस्त अवस्था में मनुष्यों के बीच जब सामयिक एकाग्रता आती है तब उसका ही चित्ताणुपुञ्ज भावित विषय का रूप परिग्रह करता है। इस अवस्था में वह अपने मन की भावना

को बाहर में भी प्रत्यक्ष रूप से देखता है, निर्जन स्थान में भी प्रेत देखता है। मन को बाहर में देखने का नामकरण धनात्मक भ्रान्तिदर्शन (positive hallucination) किया जा सकता हैं। अनुरूप भाव से मन की भावना बाहर की वस्तु नहीं है, ऐसा प्रतीत होने पर इसे ऋणात्मक भ्रान्तिदर्शन (negative hallucination) कहा जा सकता है। जो कहते हैं कि मैने भूत देखा है, वे मिथ्या नहीं कहते हैं-उनके मन की भ्रान्ति चाक्षुष हो बैठती है।

अभिभावन सम्पूर्ण रूपेण आभ्यन्तरीण होने पर यदाकदा अपनी सत्ता में भी प्रेतभ्रम हो सकता है। उस समय वह व्यक्ति ही ऐसा आचरण करता है जिसे देखकर बाहर के लोग कह सकते हैं कि अमुक के शरीर में प्रेत भरते हुए मैंने देखा है। देव- देवियों का भरना भी ठीक इसी प्रकार की बातें हैं।

३/७ हितैषणाप्रेषितोऽपवर्गः ।

[Hitaeśaná presito'pavargah]

भावार्थ :- कर्म समाप्ति के बाद जो फल होता है, उसके पश्चात् भी ब्रह्म की हितैषणा ही रहती है। अन्याय कर्म की शास्ति मनुष्य को अन्याय कर्म से दूर रहने की शिक्षा देती है, सत् कर्म का शुभफल मनुष्य को शिक्षा देता है कि असत् कर्म करने से इस प्रकार का शुभ फल और पाया नहीं जा सकता है।

३/८ मुक्तयाकाङ्क्षया सद्गुरुप्राप्तिः ।

[Muktyákáunksayá sadguruprápti h]

भावार्थ :- मनुष्य में जब मुक्ति पाने की आकांक्षा उग्रभाव से उदित होती है, तब उस आकाक्षा की शक्ति से ही सद्गुरु मिल जाते हैं।

६/९ ब्रह्मैव गुरुरेकः नापरः ।

[Brahmaeva gururekah náparah]

भावार्थ :- एकमात्र ब्रह्म ही गुरु हैं। वे ही विभिन्न आधार के माध्यम से जीव को मुक्तिपथ का सन्धान लगा देते हैं। ब्रह्म के व्यतिरेक और कोई भी गुरु पदवाच्य नहीं हैं।

३ / १० बाधा सा युषमाना शक्तिः सेव्यं स्थापयति लक्ष्ये

[Bádhá sá yusamáná shaktih sevyam sthápayati lakśye]

भावार्थ :- साधना-मार्ग में बाधा प्रकृत पक्ष में मनुष्य का शत्रु नहीं, वर्न मित्र है वह मनुष्य का सेवक हे बाधा के फल से बाधा के विरुद्ध संग्रम चलता है

और उसकी चेष्टा ही साधक को लक्ष्य की प्राप्ति करा देता है।

३/११ प्रार्थनार्चनामात्रैव भ्रममूलम् ।

[Prárthanárcaná mátraeva bhramamúlam]

भावार्थ :- ईश्वर के निकट प्रार्थना करना बेकार है, क्योंकि जिसे जिस चीज की आवश्यकता है वे उसे तो वह देंगे, अर्चना खुशामद् करना छोड़ और कुछ नहीं है।

३/१२ भक्तिर्भगवद्भावना न स्तुतिर्नार्चना।

[Bhaktirbhagavadbhávaná na stutirnárcaná]

भावार्थ :- एकनिष्ठ भाव से भगवान की भावना लेने का नाम ही भक्ति है। भगवान की स्तुति गाना या विभिन्न उपाचार से अर्चना करने के साथ भक्ति सम्बन्धित नहीं है। तो भी भक्त की इच्छा होने पर वे ऐसा कर सकते हैं किन्तु वह भक्ति साधना का अत्यावश्यक अंश नहीं है।

चतुर्थोऽध्यायः

४/१ त्रिगुणात्मिका सृष्टिमातृका अशेषत्रिकोणधारा।

[Triguńátmiká srstimátrká asheśatrikońadhárá]

भावार्थ :- परमपुरुष से सत्त्व, रज और तमः की विभिन्न धाराएँ अजस्र रेखाकार तरंगों में वह चली हैं। सत्त्व, रज और तमः यह त्रिगुणात्मक तरंगधाराएँ मिलित होकर त्रिकोण या ततोऽधिक कोणात्मक विभिन्न यन्त्रों की सृष्टि होती चलती है। बहुभुज यन्त्रसमूह के भी स्वरूपपरिणाम के कारण क्रमशः त्रिकोणयुक्त त्रिभुज में रूपान्तरित होता रहता है। यह त्रिगुणात्मिका मातृकाशक्ति अशेष है।

४/२ त्रिभुजे सा स्वरूपपरिणामात्मिका ।

[Tribhúje sá svarúpapariṅámátmiká]

भावार्थ :- इस त्रिभुज में सत्त्व रजः में, रजः तमः में और तमः रजः में, रजः सत्त्व में सीमाहीन भाव में

रूपान्तर होता रहता है। उनके इस रूपान्तरणको स्वरूपपरिणाम कहा जाता है।

४/३ प्रथमा अव्यक्ते सा शिवानी केन्द्रे च परमशिवः ।

[Prathamá avyakte så shivánii kendre ca paramashivah]

भावार्थ :- इन त्रिभुजसमूह का मध्यविन्दुसमूह जिस सूत्र से ग्रथित है, वह सूत्र ही पुरुषोत्तम या परमशिव है। यह त्रिभुज जब तक शक्तिरूद्भिन्नता के कारण भारसाम्य नहीं खो बैठता है तबतक उसको त्रिकोणाधार की प्रथमावस्था कह सकते हैं। यह प्रथमावस्था प्राक् सृष्टि की अवस्था है। अत: यह सम्पूर्णत: सैद्धान्तिक अवस्था है। इस अवस्था की आधारस्रष्ट्री प्रकृति शिवानी या कौषिकी शक्ति के नाम से ख्यात है, और उसके साक्षीपुरुष शिव के नाम से आख्यात हैं।

४/४ द्वितीयासकले प्रथमोद्गमे भैरवी भैरवाश्रिता ।

[Dvitiiyá sakale prathamodgame bhaeravii bhaeraváshritá]

भावार्थ :- त्रिभुज का भारसाम्य नष्ट हो जाने पर किसी एक कोण से सृष्टि का अंकुर निर्गत होता है एवं वह गुणभेद से सरलरेखाकार में अग्रसर होता रहता है। यह अवस्था प्रकृत पक्ष में व्यक्त पुरुष और व्यक्ता प्रकृति की अवस्था है। पुरुष जहाँ पर सगुण का कारण है, प्रकृति वहाँ पर स्वयं व्यक्त करने का सुयोग पाती है। यह अवस्थास्त्रष्ट्री प्रकृति भैरवी शक्ति के नाम से ख्याता है एवं साक्षी पुरुष का नाम भैरव है।

४/५ सदृशपरिणामेण भवानी सा भवदारा।

[Sadrshaparińámena bhaváanii sá bhavadárá]

भावार्थ :- इसके बाद शक्तिप्रवाह के आभ्यन्तरीण संघर्ष के कारण वक्रता दिखाई देती है, पुरुषभाव की गम्भीरता भी ह्रास होती रहती है। इस अवस्था में ही प्रथम कला का उद्भव होता है। एक कला के अनुरूप द्वितीय कला, द्वितीय कला के अनुरूप तृतीय कला- इस तरह कलाप्रवाह चलते रहते हैं। इस प्रकार के कलानुवर्तन का नाम सदृशपरिणाम है। इस सदृश परिणामात्मिका तरङ्गप्रवाह में ही मानसजगत् और भौतिक जगत् सृष्ट होते हैं। इस कलानुवर्तन के कारण हमलोग मनुष्य की सन्तान मनुष्य ही देखते हैं, वृक्ष

की सन्तान वृक्ष ही देखते है। कलाएँ सदृश हैं किन्तु हूबहू एक नहीं हैं। इसीलिए एक के बाद एक कला का पार्थक्य सम्यक् रूप से अनुभूत नहीं होने पर जिन सभी कलाओं का पारस्परिक दूरत्व अधिक है उनका पार्थक्य भी दिखाई पड़ता है। जिसे हमेशा देखा जाता है उसका शारीरिक परिवर्तन नहीं समझने पर भी पाँच वर्ष की उम्र के किसी शिशु को बीस वर्ष के बाद पचीस वर्ष के युवक के रूप में देखने के बाद पार्थक्य अवश्य ही समझ में आता है। मनुष्य की सन्तान मनुष्य होने पर भी दस लाख वर्ष पूर्व के मनुष्य और आज के मनुष्य में अनेक अन्तर है प्रकृतपक्ष में व्यक्त जगत् की स्रष्ट्री यह कलात्मिका शक्ति है। इसे भवानी शक्ति कहा जाता है और इसके साक्षी पुरुष को 'भव'। 'भव' शब्द का अर्थ सृष्टि है।

४/६ शम्भूलिङ्गात् तस्य व्यक्तिः ।

[Shambhúliungát tasya vyaktih]

भावार्थ :- त्रिकोणाधार के जिस विन्दु से प्रथम भैरवी का स्फुरण है वस्तुतः उसी समय में सृष्टि का सैद्धान्तिक से व्यावहारिक विकास है। सिद्धान्त और व्यवहार में यह जो सामान्यविन्दु है। उसे शम्भूलिंग कहा जाता है। वस्तुतः यह शम्भूलिङ्ग ही सकल धनात्मिकता का मूल विन्दु (Fundamental positivity) है। इस प्रारम्भिक विन्दु के बाद नाद तथा उसके बाद कला का उद्भव है।

४/७ स्थूलीभवने निद्रिता सा कुण्डलिनी।

[Sthúliibhavane nidritá sá kundalinii]

भावार्थ :- व्यक्तीकरण की शेषविन्दु भवानीशक्ति का शेष प्रान्त है। इसलिए शक्ति विकास की वह रमतम अवस्था चरम जड़ावस्था है। इस जड़भाव में निद्रिता पराशक्ति जीव भाव की आख्या लिए हुए सुषुप्तावस्था में रहती है। उसका ही नाम कुलकुण्डलिनी है।

४/८ कुण्डलिनी सा मूलीभूता ऋणात्मिका

[Kundalinii sá múliibhúta ráátmiká]

भावार्थ :- विकास के शेष विन्दु को स्वयंभूलिङ्ग कहा जाता है। यह स्वयंभूलिङ्ग ही परम ऋणात्मक विन्दु है, और तदाश्रिता कुण्डलाकारा जो प्रसुप्तशक्ति है वह कुण्डलिनी शक्ति है। शम्भूलिङ्ग यदि परम

धनात्मक भाव हो तो स्वयंभूलिङ्ग में आश्रिता कुण्डलिनी को परम ऋणात्मिका शक्ति कह सकते हैं।

पञ्चमोऽध्यायः

५/१ वर्णप्रधानता चक्रधारायाम् ।

[Varnapradhánatá cakradhárȧyám]

भावार्थ :- आदि काल में सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित समाज नहीं था। उस काल को शूद्र युग कहा जा सकता है। तब सभी श्रमजीवी थे। इसके बाद साहसी एवं शक्तिशाली सरदारों का युग आया जिसे क्षात्र युग कहा गया। तत्पश्चात् बुद्धिजीवियों का युग अर्थात् विप्रयुग और सवके अन्त में वैश्य युग-व्यवसायियाँ का युग आया। वैश्य युग के शोषण के फलस्वरूप विप्र एवं क्षत्रिय जब शूद्रत्व में पर्यवसित होते हैं, तब शूद्र विप्लव के विस्फोट की आशंका प्रति क्षण बढ़ती जाती है। यदि दमन और शोषण का चक्र अबाध चलता रहा,

तो भयंकर शूद्र-विप्लव दावाग्नि के समान समाज-कानुन को भस्मसात् कर प्राचीन मान्यताओं एवं सभ्यता और संस्कृति के अवशेष पर नया समाज की परिकल्पना करता है। लेकिन शुद्रों का न तो कोई दृढ़निबद्ध समाज है और न उर्वर बुद्धि । फलतः विप्लव के बाद समाज का शासन उनके द्वारा नहीं होता। इस विप्लव में जो उनका नेतृत्व करते हैं वैश्योत्तर युग में शासन व्यवस्था उन्हीं के हाथों में आती है। ये वीर और साहसी नेता द्वितीय बार फिर क्षात्रयुग के आगमन की सूचना देते हैं। शुद्रयुग, क्षत्रिययुग, वैश्ययुग, विप्रयुग, तत्पश्चात् विप्लव और उसके बाद फिर वही परिक्रमा चलती रहती है। समाज का यह चक्र इसी तरह घूमता रहता है।

५ / २ चक्रकेन्द्रे सद्विप्राः चक्रनियन्त्रकाः ।

[Cakrakendre sadvipráh cakraniyantrakah]

भावार्थ :- जो नीतिवादी आध्यात्मिक साधक अपने शक्तिसम्प्रयोग द्वारा पाप का दमन करना चाहते हैं, वे ही सद्विप्र हैं। चक्र की परिधि में इनका स्थान नहीं है, क्योंकि ये चक्र की धूरी या प्राणकेन्द्र के रूप में अधिष्टित रहेंगे। चक्र ठीक ही चलता रहेगा, किन्तु यदि क्षत्रिययुग में क्षत्रिय शासक के बदले प्रधानतः शोषक बन जाय, विप्रयुग में विप्र और वैश्ययुग में वैश्य जनसाधारण का शोषण करने लगे, उस दशा में शक्ति सम्प्रयोग द्वारा सत् और शोषित जनों की रक्षा तथा असत् और शोषकों का दमन करना इन्हीं सद्विप्रों का धर्म है।

५/३ शक्तिसम्पातेन चक्रगतिवर्धनं क्रान्तिः ।

[Shaktisampátena cakragativardhanam krantih]

भावार्थ :- जहाँ क्षत्रिय शोषक बन जाते हैं, वहाँ सद्विप्र क्षत्रियों का दमन कर विप्र युग की प्रतिष्ठा करेंगे। स्वाभाविक रूप से जिस समय विप्र युग आना चाहिये उस समय के आगमन की गति को शक्तिप्रयोग द्वारा ये सद्विप्र कुछ त्वरित कर देते हैं। इस तरह का युग परिवर्तनको क्रान्ति (evolution) कहा जाएगा। स्वाभाविक परिवर्तन (natural change) से क्रान्ति में एक मात्र यही अंतर है कि इसमें शक्ति सम्प्रयोग द्वारा चक्र की गति बढ़ जाती है।

५/४ तीव्रशक्तिसम्पातेन गतिवर्धनं विप्लवः ।

[Tiivrashaktisampátena gativardhanam viplavah]

भावार्थ :- अल्पकाल में यदि किसी विशेष युग को हटाकर परवर्ती युग के कठोर बन्धन को ध्वस्त करने के लिए यदि अत्यधिक शक्ति सम्प्रयोग की आवश्यकता हो, तो वैसी दशा में तत्संक्रान्त परिवर्तन को विप्लव (revolution) कहा जाता है ।

५/५ शक्तिसम्पातेन विपरीतधारायां विक्रान्तिः ।

[Shaktisampátena vipariitadhárayám vikrántih]

भावार्थ :- शक्ति सम्प्रयोग द्वारा यदि किसी एक युग को उसके पीछे वाले युग की ओर ले जाया जाय, वैसी दशा में उस परिवर्तन को विक्रान्ति (counter-evolution) कहा जाता है । विप्र युग के बाद क्षत्रिय युग की स्थापना को विक्रान्ति कहेंगे। यह विक्रान्ति

अत्यन्त अल्पस्थायी होती हैं, अर्थात् अल्प काल के बाद ही फिर उसके बाद का युग अथवा उस युग के बाद का युग आ जाता है। यदि विप्र युग के बाद हठात् क्षत्रिय युग की विक्रान्ति हो जाय, वैसी हालत में वह क्षत्रिय युग दीर्घस्थायी नही रह सकेगा। अल्पकाल के बाद ही विप्र युग अथवा स्वाभाविक गतिधारा के अनुसार फिर वैश्य युग आ जाएगा।

५/६ तीव्रशक्तिसम्पातेन विपरीतधारायां प्रतिविप्लवः ।

[Tiivrashaktisampátena viparíitadhárayám prativiplavah].

भावार्थ :- अत्यन्त अल्प काल में अनुरूप भाव से अथवा अधिक शक्ति सम्प्रयोग द्वारा यदि किसी युग को पीछे ढकेल दिया जाय तो उसे प्रतिविप्लव

(counter-revolution) कहेंगे। विक्रान्ति की तुलना में प्रतिविप्लव और भी क्षणस्थायी है।

५/७ पूर्णावर्त्तनेन परिक्रान्तिः ।

[Púrńávartanena parikarántih]

भावार्थ :- समाजचक्र एक बार पूर्ण रूप से घूम जाने पर अथवा एक बार शूद्रविप्लव होने पर समाजचक्र को परिक्रान्ति कहेगे।

५/८ वैचित्र्यं प्राकृतधर्मः समानं न भविष्यति ।

[Vaecitryam prákrtadharmah samánam na bhaviśyati]

भावार्थ :- विचित्रता ही प्रकृति का धर्म है। सृष्ट जगत् की कोई भी दो वस्तुएँ तादात्म्य रूप से एक समान नहीं होतीं दो शरीर एक नहीं हैं, दो मन एक

नहीं हैं, दो अणु या परमाणु भी एक नहीं हैं। यह विचित्रता ही प्रकृति का स्वभाव है। यदि कोई सब कुछ को समान करना चाहे वैसी दशा में ऐसा करना व्यर्थ होगा, क्योंकि यह प्राकृत धर्मविरोधी बात है। केवल प्रकृति की अव्यक्त अवस्था में ही सब कुछ समान होते हैं। इसलिए जो सबको समान करने की बात करते हैं, वे सबको ध्वंस करने की बात करते हैं ।

५/९ युगस्य सर्वनिम्नप्रयोजनं सर्वेषां विधेयम् ।

[Yugasya sarvanimnaprayojanam sarveśám vidheyam]

भावार्थ :- "हरमें पिता गौरी माता स्वदेशः भुवनत्रयम्" । इसीलिए इस विश्वब्रह्माण्ड की प्रत्येक सम्पदा प्रत्येक मनुष्य की साधारण सम्पत्ति है, किन्तु विश्व की कोई वस्तु सोलह आना समान नहीं हो

सकती। इसलिए मनुष्य की जो निम्नतम आवश्यकता है, उसकी व्यवस्था सबों के लिए करनी होगी अर्थात् अन्न, वस्त्र, चिकित्सा, वासगृह, शिक्षा आदि की व्यवस्था सबके लिए करना आवश्यक कर्तव्य है। मनुष्य की ये निम्नतम आवश्यकताएँ प्रत्येक युग में बदलती रहती हैं।

सवारीगाड़ी की दृष्टि से किसी युग में मनुष्य की निम्नतम आवश्यकता एक साइकिल हो सकती है और किसी युग में वायुयान भी हो सकता है। जिस युग में मनुष्य की जो निम्नतम आवश्यकता होगी, उसकी व्यवस्था अवश्य ही करनी होगी।

५/१० अतिरिक्तं प्रदातव्यं गुणानुपातेन ।

[Atiriktam pradátavyam guńánupátena]

भावार्थ :- युग की निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो अतिरिक्त सम्पदा बची रहेगी उसे विशेष गुणसम्पन्न व्यक्तियों के बीच गुण के अनुपात के अनुसार बाँट देना होगा। जिस युग में एक साधारण मनुष्य की आवश्यकता एक साइकिल है, उस युग में एक चिकित्सक की आवश्यकता एक मोटर गाड़ी है। गुण के आदर के लिए तथा गुणी को समाज सेवा का अधिकतर सुअवसर देने के लिए उसे मोटरगाड़ी देनी होगी । Serve according to your capacity and earn according to your necessity – यह बात सुनने में अच्छी तो लगती है किन्तु धरती की कड़ी मिट्टी में इससे फसल नहीं मिलेगी।

५/११ सर्वनिम्नमानवर्धनं समाजजीवलक्षणम् ।

[Sarvanimnamánavardhanam samájajiivalakśań am]

भावार्थ :- साधारण मनुष्य की निम्नतम आवश्यकता का जो स्थिरीकृत न (accepted standard) है, गुणियों को उससे कुछ अधिक अवश्य ही मिलेगा, किन्तु इस निम्नतम मान (standard) को ऊपर उठाने की भी अन्तहीन चेष्टा करनी होगी। जब जनसाधारण की आवश्यकता एक साइकिल की होगी और गुणियों की मोटर गाड़ी की, हमें तब चेष्टा करनी होगी जिससे कि जनसाधारण को भी एक मोटरगाड़ी मिले। प्रत्येक व्यक्ति को एक मोटरगाड़ी देने के बाद, सम्भव है कि देखा जाय कि गुणी जनों के लिए एक वायुयान की आवश्यकता है। गुणी जनों को एक वायुयान देने के बाद निम्नतम मान को ऊपर उठाकर जनसाधारण को भी वायुयान देने की चेष्टा करनी होगी। इस तरह निम्नतम मान को भी उठाने को

अशेष चेष्टा करनी होगी एवं इसी चेष्टा के ऊपर मनुष्य की जागतिक ऋद्धि निर्भर करेगी।

५/१२ समाजादेशेन बिना धनसञ्चयः अकर्तव्यः ।

[Samájádeshena viná dhanasaincayah akartavyah]

भावार्थ :- यह विश्वब्रह्माण्ड सबों की यौथ सम्पत्ति है। इसे भोग करने का अधिकार सभी को है। किन्तु अपव्यय करने का अधिकार किसो को नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अतिरिक्त सम्पदा आहरण एवं संचय करता है, उस दशा में वह प्रत्यक्ष रूप से समाज के अन्य व्यक्तियों की सुख-सुविधा को ही खर्व करता है। उसका आचरण प्रत्यक्ष रूप से ही समाजविरोधी है। इसलिए समाज की अनुमति के सिवा किसी भी व्यक्ति को सम्पद संचय करने का मौका देना उचित नहीं है।

५/१३ स्थूलसूक्ष्मकारणेषु चरमोपयोगः प्रकर्तव्यः विचारसमर्थितं वण्टनञ्च ।

[Sthúlasúkśmakáraṅeśu caramopayogah prakartavyah vicárasamarthitam vantanainca]

भावार्थ :- स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् में जो कुछ भी सम्पद निहित है, जीवीं के कल्याण के लिए उनका उत्कर्ष साधन करना है । क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम इन पञ्च तत्त्वों के अन्दर जहाँ भी जो कुछ छिपी हुई सम्पदाएँ हैं, उनका उत्कर्ष सोलहो आना उनके सद्व्यवहार की प्रचेष्टा द्वारा ही संभव है। जल, स्थल, अन्तरीक्ष उलट-पुलट करके मनुष्य की अपनी-अपनी आवश्यकताओं के उपादानों को खोज-खोज कर ढूँढ लेना होगा बना लेना होगा। मनुष्य द्वारा आहत सम्पदाओं को विचारपूर्वक मनुष्यमात्र में बांट देना होगा, अर्थात सबों की निम्नतम आवश्यकताओं की

पूर्ति करनी ही है। फिर भी गुणी और विशेष दशा में विशिष्ट व्यक्ति के प्रयोजन को भी ध्यान में रखना होगा।

५/१४

व्यष्टिसमष्टिशारीरमानसाध्यामिक-सम्भावनायां चरमोऽपयोगश्च ।

[Vyaśtisamaśtisháriiramánasádhyatmika-sambhávanáyám caramopayagashca]

भावार्थ :- समष्टि देह का, समष्टि मानस का तथा समष्टिगत आत्मा का विकास करना होगा। समष्टि का कल्याण व्यष्टि में और व्यष्टि का कल्याण समष्टि में है। इस बात को भूलने से काम नहीं चलेगा। उपयुक्त खाद्य, प्रकाश, हवा, वासगृह एवं चिकित्सा द्वारा व्यष्टि देह के खाद्यान्न की व्यवस्था नहीं कर सकने से समष्टि देह का कल्याण हो नहीं सकता है। इसीलिए

समष्टि देह की कल्याणकामना के लिए प्रेरित होकर ही व्यष्टिकल्याण करना होगा। प्रत्येक व्यष्टि में उपयुक्त समाज-बोध, सेवा-बोध तथा ज्ञान जगाने की चेष्टा नहीं करने से समष्टि का भी मानसिक विकास नही हो सकता है। इसीलिए समष्टि-मानस के कल्पाण की भावना से उद्‌बुद्ध होकर व्यष्टिमानस का कल्याण करना होगा ! व्यष्टि में आध्यात्मिकता तथा आध्यात्मिकता केन्द्रिक नैतिकता नहीं रहने से समष्टि का मेरुदण्ड टूट जाएगा। इसलिए समष्टि के कल्याण के लिए ही व्यष्टि-व्यष्टि में आध्यात्मिकता की ज्योति जगानी होगी। गिनती में केवल चार-पाँच शक्तिशाली व्यष्टियों से, चार- पाँच पण्डित या बुद्धिमानों से अथवा चार-पाँच आध्यात्मिक साधकों के रहने से समग्र समाज की प्रगति सूचित नहीं होती। प्रत्येक व्यष्टि के शरीर, मन और अत्मा में अनन्त विकास की सम्भावनाएँ हैं। उन सम्भावनाओं को कार्य में लगाना ही होगा।

५/१५ स्थूलसूक्ष्मकारणोपयोगाः सुसन्तुलिताः विधेयाः ।

[Sthúlasúkśmakáraṅopayogah susantulitáh vidheyah]

भावार्थ :- व्यष्टि और समष्टि देह की कल्याण साधन के लिए इस तरह काम करना होगा जिससे शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तोनों में एक सुसामंजस्य रहे। प्रत्येक मनुष्य की निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने का दायित्व समाज का है; किन्तु समाज यदि इस दायित्व की प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रत्येक घर में अन्न भेजने की व्यवस्था कर देता है, प्रत्येक के लिए गृह निर्माण कर देता है, वैसी हालत में व्यष्टि की कर्मचेष्टा ढीली पड़ जाएगी-वह क्रमशः सुस्त पड़ जाएगा, काहिल हो जाएगा। इसीलिए निम्नतम

आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय जिस परिमाण में अर्थ की आवश्यकता होगी उसे अपने सामर्थ्य के अनुसार परिश्रमविनिमय के द्वारा मनुष्य उपार्जन कर सके, वैसी ही व्यवस्था समाज को करनी होगी और जहाँ मनुष्य के सर्वनिम्न प्रयोजन का मनोनयन करना है, वहाँ उस मनुष्य की क्रयक्षमता भी बढ़ा देना ही उनके लिए प्रकृष्ट उपाय है। 50

सामञ्जस्य विधान कहने से यह भी समझा जाता है कि जो मनुष्य शरीर, मन और आत्मा तीनों से उन्नत हैं उनसे सेवा लेने के लिए केवल समाज एक सामंजस्यपूर्ण नीति मान कर चलेगा। जिनकी शारीरिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक कोई एक ही शक्ति प्रकट है, समाज उनसे उसी प्रकार की सेवा लेगा। जिनकी शारीरिक और बौद्धिक दोनों शक्तियाँ ही यथेष्ट हैं, समाज उनसे अधिक परिमाण में बोद्धिक और अल्प परिमाण में शारीरिक सेवा लेने की एक सामञ्जस्यपूर्ण नीति मानकर चलेगा, क्योंकि बौद्धिक शक्ति अपेक्षाकृत

सूक्ष्म और दुष्प्राप्य होती है। जिसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों ही शक्तियाँ मौजूद हैं, समाज उनसे अधिक परिमाण में आध्यात्मिक, अल्प परिमाण में बौद्धिक और अत्यल्प परिमाण में शारीरिक सेवा लेगा। समाज कल्याण में सबसे अधिक सेवा वे ही कर सकते हैं जिन्हें आध्यात्मिक शक्ति है। उसके बाद जिन्हें बौद्धिक शक्ति है वे अधिक सेवा कर सकते हैं। जिन्हें शारीरिक शक्ति है, वे यद्यपि तुच्छ नहीं है तथापि वे स्वयं कुछ कर नहीं सकते। वे जो कुछ करते हैं, उसे आध्यात्मिक, बौद्धिक शक्तिसम्पन्न व्यष्टियों के निर्देशानुसार ही करते हैं। इसलिए समाज नियंत्रण का भार शारीरिक शक्तिप्रधान व्यक्तियों के हाथ में भी रहना उचित नहीं है, बुद्धिप्रधान व्यक्तियों के हाथों में
भी रखना उचित नहीं है; विषयबुद्धिप्रधान व्यक्तियों के हाथों में भी रखना उचित नहीं है; रखना उचित है उनके हाथों में जो एक ही आधार में आध्यात्मिक साधक, बुद्धिमान एवं साहसी हैं ।

५/११ देशकालपात्रैः उपयोगाः परिवर्त्तन्ते ते उपयोगाः प्रगतिशीलाः भवेयुः ।

[Deshakálapátrach upayogáh parivattante te upayogáh pragatishiiláh bhaveyuh]

भावार्थ :- किसी वस्तु का क्या यथार्थ व्यवहार है वह देश, काल, पात्रानुसार परिवर्तित होता रहता है। जो यह सहज नीति नहीं समझ सकते हैं वे लकीर के फकीर की तरह पुरातन कंकाल को ही जकड़ कर रखना चाहते हैं। इसीलिए वे समाज में खारिज हो जाते हैं। क्षुद्र नेशन-बोध, अंचल-बोध, कुलगरिमा इत्यादि वृत्तियाँ मनुष्य को इस मूल तत्त्व से दूर हटाकर रखना चाहती हैं। इसीलिए वे सहज तत्त्व को अकपट भाव से स्वीकार नहीं कर सकते। फलस्वरूप अपने देश तथा जनता की अवर्णनीय क्षति कर यवनिका के अन्तराल में डूब जाने के लिए बाध्य होते हैं।

देश-काल-पात्रानुसार सारी वस्तुओं के व्यवहार में परिवर्तन आएगा, इसको मानना ही होगा और इसको जानकर प्रत्येक विषय तथा भाव (idea) के व्यवहार में प्रगतिशील होना होगा। एक शक्तिशाली व्यक्ति जो शक्ति लेकर आज बहुत बड़ी हथौड़ी चला रहा है, वैज्ञानिक गवेषणा द्वारा उसको इस शक्ति को केवल एक हथौड़ी चलाने के काम में लगाकर एक साल एकाचिन्त हयौड़ई चलाने के काव में लगाना होगा, अर्थात् वैज्ञानिक गवेषणा में प्रगतिशीलता का भाव लेकर मनुष्य की शक्ति से क्रमश: अधिक से अधिकतर सेवा ले लेनी होगी। उन्नत प्रकार के यन्त्र आदि तथा प्रगतिशील भावधारा में सृष्ट विभिन्न उपादानों और उपकरणों के व्यवहार के फलस्वरूप समाज में छोटी-बड़ी विभिन्न प्रकार की जो असुविधाएँ दिखाई दे सकती हैं या दिखाई देंगी, उन सारी असुविधाओं को सामना साहस के साथ करना होगा और संग्राम द्वारा

अपने का उपयुक्त कर जीवन की सार्वभौम चरितार्थता के पथ पर अग्रसर होना होगा।

प्रगतिशीलउपयोगतत्त्वमिदं सर्वजनहितार्थं सर्वजनसुखार्थं प्रचारितम् । (आषाढ़ी पुर्णिमा १९६८ बंगाब्द)

समाप्त

**********X**********

घोषणा

लिंग, जाति, पंथ, धर्ममत, अमीर , गरीब आदि को विचार किए बिना सभी मनुष्यों को आध्यात्मिक साधना सीखने , अभ्यास करने और आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए मार्गदर्शन प्राप्त करने का समान अधिकार है। अध्यात्मिक साधना विज्ञान को 'योग' भी कहा जाता है। योग के ज्ञान का कभी भी व्यावसायिक उद्देश्य के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए। इसका वितरण नि:शुल्क होना चाहिए। यह साधना कोई भी आदमी "आनंद मार्ग प्रचारक संघ" के सन्यासियों और सन्यासिनीयों से किसी भी समय, नि:शुल्क सीख सकता है।

मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य परम शांति या आनंद का अनुभव करना है। केवल ईश्वर प्राप्ति के द्वारा ही आनंद प्राप्ति कर सकता है। योग साधना से ही ईश्वर

प्राप्ति संभव है; और कोई रास्ता नहीं है।